

वैदिक सृष्टि प्रक्रिया

प्रो० सन्तोष कुमार शुक्ल

डॉ० लक्ष्मीकान्त विमल

डॉ० मणि शंकर द्विवेदी



तेजस्वि नावधीतमस्तु

श्रीशंकर शिक्षायतन

को अन्ना वेद क इह प्रबोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा विसर्जनेनाथाः को वेद यत आबभूव ।।
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग! वेद यदि वा न वेद ।।

-ऋग्वेद १०.१२९.६-७

मूल तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करे? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई है? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुईं? देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। अतः वे देवगण भी अपने से पूर्व के विषय में नहीं बता सकते। कहाँ से यह सृष्टि हुई, यह कौन जानता है। ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हुईं, किसने सृष्टियाँ कीं और किसने नहीं कीं, यह सब वे ही जानें, जो इनके स्वामी परम धाम में रहते हैं। हो सकता है कि वे भी यह सब न जानते हों।

प्रकाशक :

विद्यानिधि प्रकाशन

डी-10/1061 (समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)

खजूरी खास, दिल्ली-110090

© श्रीशंकर शिक्षायतन

ISBN : 978-81-965022-0-1

प्रथम संस्करण : 2023

मूल्य : 950.00

लेज़र टर्इप सैटिङ्ग :

एस० के० ग्राफीक्स

दिल्ली-84

आत्मा की आनन्दरूपता

प्रो० रामानुज उपाध्याय*

संशयतदुच्छेदवाद नामक ग्रन्थ आचार्य मधुसूदन ओझाजी की महनीय कृतियों में से एक है। इसमें तीन काण्ड हैं। पहले 'विज्ञानोपक्रमाधिकार' काण्ड में 6 पर्व हैं जिसमें दूसरे पर्व के तीसरे खण्ड का नाम दुःखप्रतिपत्ति है। इसमें 9 श्लोक हैं।

इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में विविध दार्शनिक विषयों पर आचार्य ओझा जी अपना स्वतन्त्र विचार रखते हुए उन्हें वैदिक विज्ञान की दृष्टि से पुष्ट एवं प्रमाणित किया है जो आचार्य जी के तलस्पर्शी ज्ञान को सुव्यक्त करता है।

इस प्रकरण के आरम्भ में आत्मा अर्थात् जीवात्मा आनन्दमय है या दुःखमय है? ऐसी जिज्ञासा की गई है। जैसा कि आचार्यचरण लिखते हैं-

आत्मा सदानन्दमयोऽस्त्ययं वा स सर्वदा दुःखमयोऽस्ति किं वा ।

भयं स दुःखं लभते कथं वा किमस्ति दुःखं किमदं भयं वा ।'

आत्मा के आनन्दरूपता को निरूपित करने के पहले आत्मा के स्वरूप पर विचार करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

संसार के सभी दार्शनिकों ने आत्मतत्त्व पर ऊहापोहपूर्वक विचार किया है। परन्तु आचार्य ओझाजी की एक अपनी दृष्टि है। वे कहते हैं- जो कहता है कि मैं आत्मा को जानता हूँ, वह आत्मा को नहीं जानता है। इसी प्रकार जो यह कहता है कि मैं आत्मा को नहीं जानता हूँ, वास्तव में वही आत्मज्ञ है। इसी बात को श्रुति भी कहती है-

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।'

आचार्य ओझा जी की दृष्टि में संसार में मुख्यरूप से दो तत्त्व प्रधान हैं। रस एवं बल, रस को आभु एवं बल को अभ्व कहा गया है। यहाँ का रस शब्द आनन्द का

बोधक है। प्रकारान्तर से रस को ब्रह्म एवं बल को कर्म कहते हैं। 'रसो वै सः' यह श्रुतिवाक्य उस ब्रह्म का ही बोधक है। यहाँ आत्मा रसस्वरूप है एवं बल आत्मा की शक्ति है। जिस प्रकार शक्ति का आश्रय शक्तिमान् है अर्थात् शक्ति अपने आश्रय से भिन्न अपनी सत्ता नहीं रख सकती। वह पृथक् होकर कभी प्राप्त भी नहीं की जा सकती। जब कभी शक्ति का अनुभव होगा आश्रय के द्वारा ही होगा, उसी प्रकार बल बिना रसाश्रय के नहीं रह सकता। इस प्रकार ये दो नहीं हैं, एक ही है। अग्नि एवं उसकी दाहकता शक्ति इन दोनों को दो तत्त्व नहीं कहा जा सकता।

आचार्यचरण लिखते हैं-

अत्रोच्यते द्वैधमिदं निरुक्तं रसो बलं चेति पृथक् स्वभावम्।

रसोऽयमात्मा बलमात्मशक्तिः स नित्यमानन्दमयो रसत्वम्॥³

रसस्वरूप आत्मा ही आनन्दमय है। जो बल का कारणभूत है। हम इसे समष्टि, व्यष्टिरूप कहें या अखण्ड एवं सखण्ड आत्मा के रूप में, बात एक ही है।

यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह⁴

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥⁵

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-

रतद्व्यावृत्त्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।

स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः⁶

आदि वाक्य इसी रस स्वरूप अखण्ड आत्मा के लिए प्रयुक्त हैं जो आनन्दमय है।

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे।

तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः⁷

इस प्रकार अखण्ड आत्मस्वरूप रस तत्त्व ही आनन्दमय है। यही रस तत्त्व बल के रूप में अर्थात् जीवात्मा के रूप में सभी जीवों में प्रविष्ट है। जैसा कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥⁸

यह जीवात्मा परिच्छिन्न है, अनन्त है, सुखदुःख का भोक्ता है भय आदि इसे ही होते हैं, परन्तु रस स्वरूप अखण्ड आत्मा व्यापक, अगोचर एवं वाङ्मनसातीत एवं आनन्दमय है। जैसा कि आचार्यचरण ओझाजी लिखते हैं-

आत्मा द्विधा कश्चिदखण्ड एकः स निष्कलः कर्मभिरस्ति तस्मात्।
नायं विचाली न भयं न दुःखं तस्यास्ति शोको न जरा न कामः ॥⁹

इस प्रकार यहाँ अखण्डात्मा रसस्वरूप के आनन्दमयता को व्यक्त किया जा रहा है।

सृष्टिप्रपञ्च उसी आनन्द से ही उत्पन्न है। इसीलिए श्रुति कहती है-

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥¹⁰

यह आनन्द तत्त्व ही जगत् की उत्पत्ति एवं स्थिति का कारण है। प्रजोत्पत्ति में भी एकमात्र आनन्द की ही कारणता है।

इस सृष्टि प्रपञ्च को रस तत्त्व का विकास ही कहा जा सकता है। उसका परिणाम इसे नहीं कह सकते। क्योंकि जगत् को उत्पन्न करने के उपरान्त भी उस मूलतत्त्व में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जिस प्रकार दूध से दधि निर्मित होता है। दधि दूध का परिणाम है। वह दूध नहीं कहलाता। इसके गुणधर्म बदल गये, परन्तु रसस्वरूप मूलतत्त्व में कोई परिवर्तन सृष्टि के बाद भी नहीं होता है। यही इसका अखण्डानन्द है। अतः इस संसार और संपूर्ण प्रपञ्च को रसतत्त्व या मूलतत्त्व का विकास ही कह सकते हैं। पुष्प की नहीं सी कलिका का विकास हो जाने पर पुष्प का नाश या पुष्प के गुणधर्मों में परिवर्तन नहीं देखा जाता। विकास शब्द का व्यवहार आनन्द के अर्थ में भी होता है। यदि किसी को आनन्द होता है तो कहा जाता है कि वह विकसित हो गया, खिल गया, पुष्प भी विकसित होता है। अतः रसतत्त्व या आनन्द शब्द का प्रयोग मूलतत्त्व के लिए किया गया है। इसी मूलतत्त्व का एक अंश यह जीवात्मा है यह भी आनन्दस्वरूप है।

इस जीवात्मा के आनन्दरूप होने में प्रथमकारण को आचार्य ओझाजी लिखते हैं-

सर्वो जनः कामयते हि सौख्यं प्रीणाति यत्कामयते तदेव।

तत्रात्मने कामयते हि कामान् कामः स आत्मैव ततः सुखं सः ॥¹¹

लोक में प्रत्येक प्राणी सदा आनन्द सुख की इच्छा करता रहता है। कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। प्राणिमात्र की यह आनन्दाभिलाषा ही आत्मा के आनन्दमयता का पुष्ट प्रमाण है। यदि आत्मा दुःखस्वरूप होता तो कभी सुख नहीं चाहता। वायु से उत्पन्न जीव सदा वायु की कामना करते हैं। उसी प्रकार जल के जीव मत्स्य आदि जल में ही रहना पसन्द करते हैं। जल के अभाव में उनकी सत्ता ही संभव नहीं होती।

इसका तात्पर्य है कि कार्य सदा ही कारण के अंश होने से कारण में विलीन होना चाहते हैं। इच्छा उसी पदार्थ की होती है जिसका अंश आत्मा में रहता है। अतः प्राणिमात्र के आनन्दाभिलाषा में आत्मा की आनन्दरूपता स्वयं सिद्ध है।

इस शरीर में आत्मा के लिए आत्मा की रश्मियाँ नाना प्रकार के वस्तुओं की कामना करती हैं। यहाँ इच्छा शक्ति ही आत्मा की रश्मियाँ हैं जैसे सूर्य की रश्मियाँ सूर्य से अभिन्न हैं। उसी प्रकार अनन्त कामनायें शरीर में उत्पन्न होती हैं जिन्हें प्राप्त कर आत्मा आनन्दमय हो जाता है। इस काम को भी आत्मा कह सकते हैं (रश्मिरूप से)। यह आत्मा इच्छानुसार पदार्थ प्राप्त होने पर अवश्य ही आनन्दित हो जाता है। इस प्रकार यदि आत्मा आनन्दस्वरूप नहीं होता तो न इसे उन पदार्थों से आनन्द आता न उनकी इच्छा ही होती। अतः दृढतापूर्वक कह सकते हैं कि आत्मा अवश्य ही आनन्दस्वरूप है।

यह वैदिक सिद्धान्त है कि जगत् का मूल तत्त्व या रसस्वरूप अखण्डात्मा हमारे आत्मा से भिन्न नहीं है। वह मूलतत्त्व ही हमारे भीतर बैठा है। अतः मूलतत्त्व को समझने के लिए अपने आत्मा (जीवात्मा) को समझे।

लोक में हमारे जितने सम्बन्ध हैं वे सभी आत्मा को आनन्दित या प्रसन्न करते हैं। इसलिए उनसे प्रेम है अन्यथा आत्मसुख के अभाव में सर्वत्र दोषदर्शन एवं दुःख ही होता है। पुत्र में आत्मा प्रसन्न होता है, स्त्री से आत्मा की प्रसन्नता होती है इसलिए वह प्रिय है। यदि आत्मा को इन से दुःख मिलता है तो ये सब विष के समान हैं। श्रुति साक्षात् कहती है- 'स होवाच याज्ञवल्क्यः न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'।

अन्त में श्रुति कहती है सभी की कामना के लिए सभी से प्रेम होता है। इसलिए आत्मा ही प्रेम का मुख्यस्थान है और वही आनन्दमय है। जैसा कि आचार्यचरण कहते हैं- 'स सच्चिदानन्दमयोऽयमात्मा'।

वैदिक विज्ञान की दृष्टि से रस और आनन्द पर्याय हैं। लोक में भी यह देखा जाता है कि जिस वस्तु से आनन्द प्राप्त होता है उसे रस शब्द से व्यवहार किया जाता है जैसे कुछ ग्रन्थों के अध्ययन अध्यापन में अधिक आनन्द आता है, जिसे हम कहते हैं कि पढ़ने में बड़ा रस है। रस, सुख, आनन्द ये सब अपर पर्याय हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति भी कहती है- 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति। को हि एव अन्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ही आनन्दयति'। इसका

तात्पर्य है कि रस का ही नाम आनन्द है, इसे ही अमृत भी कहते हैं। चूँकि आत्मा रसस्वरूप है अतः उसके आनन्दरूपता का अपलाप नहीं किया जा सकता है। आचार्यचरण भी कहते हैं-

सुखं रसो हीति वदन्ति विज्ञा रसं हि लब्ध्वा सुखिता भवन्ति ।

रसोऽमृतं कार्यरसानुभावात् ततो रसानन्दमयः स आत्मा ॥¹²

आत्मा के आनन्दमयता के एक कारण की ओर इंगित करते हुए आचार्य चरण ओझाजी कहते हैं-

रसोऽन्नमाधीयत आत्मने यत् तृप्तिर्गतिस्तस्य रसस्य दृष्टा ।

विज्ञानमानन्द इतीह तृप्तौ तत्तृप्तिजानन्दमयः स आत्मा ॥¹³

इसका भाव यह है कि भोजन करने का मुख्य फल तृप्ति है। अर्थात् आत्मा के लिए जिस अन्न रस का आधान किया जाता है उस अन्नरस की गति तृप्ति है अर्थात् अन्नरस का अन्तिम परिणाम तृप्ति है। इसका अनुभव बच्चों से लेकर वृद्धतक को प्रतिदिन होता है। भोजन न करने के पहले जो अकुलाहट या व्याकुलता छोटे बच्चों में देखी जाती है वह अन्नरस को लेते ही गायब (दूर) हो जाती है। इसी तृप्तिजन्य सुख को आनन्द कहते हैं। स्वात्मप्रिय प्रसाद को प्राप्त कर युवा भी कह उठता है आज आनन्द आ गया। इसका तात्पर्य है कि तृप्तिजन्य जो आनन्द है वही आत्मा के स्थिति का कारण है। अर्थात् अन्न जब तक आत्मा में आहुत होता रहता है एवं आहुत अन्न तृप्ति रस बनता हुआ आनन्द को उत्पन्न करता रहता है तभी तक आत्मा की स्थिति रहती है। इस तृप्तिजन्य आनन्द के अभाव में व्यक्ति की सत्ता का भी अभाव सिद्ध है। इस प्रकार कह सकते हैं- आत्मा आनन्दमय है।

इस प्रकार आचार्य ओझाजी के मत में आत्मा की आनन्दरूपता स्पष्ट एवं प्रामाणिक सिद्ध होती है।

यह आनन्द दो प्रकार का है। समृद्ध्यानन्द एवं शान्त्यानन्द। जैसा कि आचार्यचरण कहते हैं-

आनन्द एष द्विविधोऽस्ति तावच्छ्रन्तः समृद्धयश्च रसो य एकः ।

शान्तः स यो भिन्नरसो विभिन्नैरर्थैः कृतात्मा स मितः समृद्धः ॥¹⁴

चित्त में किसी प्रकार की चंचलता न उठना ही शान्त्यानन्द का स्वरूप है एवं किसी नई वस्तु की प्राप्ति पर चित्त का चंचल हो जाना या उल्लसित होना यह समृद्ध्यानन्द है। समृद्ध्यानन्द तात्कालिक एवं क्षणिक है। साधन के साथ उत्पन्न होते

हैं एवं उनके नष्ट होने पर दुःखी हाते हैं। इनमें शान्त्यानन्द ही प्रधान है। यही उस रसस्वरूप आत्मा को व्यक्त करता है। क्योंकि मनुष्य समृद्ध्यानन्द से कुछ ही क्षणों में ऊबकर शान्त्यानन्द की कामना करता है। ये इसलिये क्षणिक एवं दुःखकारक है कि इन्द्रिय विषय संयोग से उसी क्षण उत्पन्न हाते हैं एवं अभाव होते ही नष्ट हो जाते हैं। कुछ अल्पज्ञलोग इसी समृद्ध्यानन्द को ही आत्मा मानने लगते हैं। इस पर जिज्ञासा होगी कि आत्मा तो नित्य आनन्दस्वरूप है, फिर इसमें दुःखादि कैसे संभव है? इसी बात को आचार्यजी कहते हैं-

विज्ञास्तु लोकाभिमतानि तानि ब्रुवन्ति तात्कालिकयोगजानि।
वैकारिकत्वाच्च विनश्चरत्वान्नात्मस्वरूपाणि भवन्ति तानि।¹⁵

इस का समाधान यह है कि समृद्ध्यानन्द अनित्य इसलिये है कि यह योगज है। अर्थात् रस और विषयज्ञान जब तक एकत्र मिले रहते हैं, तभी तक यह आनन्द रहता है। जब रस और विषय स्वरूप अज्ञान का सम्बन्ध टूट जाता है तो उसी समय सम्बन्ध विच्छेद के साथ ही योगज आनन्द नष्ट हो जाता है। जैसा कि आचार्यचरण कहते हैं-

रसस्य किञ्चिद्विषयावगाहिज्ञानस्य योगो ध्रियतेऽत्र यावत्।
तावत् स आनन्द उदेति पश्चात् योगे विनष्टे स विनाशमेति।¹⁶

दूसरा स्पष्ट उदाहरण

यं कामिनीं काञ्चनमाप्य लोका आनन्दमत्रानुभवन्ति सोऽयम्।
आनन्दमात्रानुभवोऽस्ति न त्वानन्दोऽस्ति सोऽन्योनुभवात् पदार्थः।¹⁷

इस प्रकार समृद्ध्यानन्द तात्कालिक योगज एवं अनित्य है। यह कथमपि रसस्वरूप नित्यात्मा संभव नहीं है। अतः शान्त्यानन्द ही वह नित्यात्मा को व्यक्त करता है। अर्थात् वह रसस्वरूप नित्य आत्मा शान्त्यानन्दमय ही है। इस प्रकार रसस्वरूप नित्यात्मा ही आनन्दमय है।

सन्दर्भ

- * आचार्य, वेदविभाग, श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
1. सं. त. वा. (प्रथम काण्ड) शास्त्री, मोतीलाल, पृ. 183, का. 139
 2. के. उ. 2/3
 3. सं. त. वा. (प्रथम काण्ड) शास्त्री, मोतीलाल, पृ. 184, का. 140
 4. तै. उ. 2/4
 5. भ. गी. 2/23

6. शि. म. 2
7. भा. मा. 1/1
8. भ. गी. 10/20
9. सं. त. वा. (प्रथम काण्ड) शास्त्री, मोतीलाल, पृ. 195, का. 148
10. तै. उ. 3/6
11. सं. त. वा. (प्रथम काण्ड) शास्त्री, मोतीलाल, पृ. 186, का. 141
12. वही, पृ. 192, का. 147
13. वही, पृ. 192, का. 146
14. वही, पृ. 117, का. 69
15. वही, पृ. 119, का. 73
16. वही, पृ. 120, का. 74
17. वही, पृ. 122, का. 77